P: ISSN NO.: 2394-0344 RNI No.UPBIL/2016/67980 VOL-3* ISSUE-9*(Part-2) December- 2018
E: ISSN NO.: 2455-0817 *Remarking An Analisation*

दिल्ली में हिन्दी रंगमंच के विकास में संस्थाओं एवं नाट्य प्रस्तुतियों का महत्व

महेंद्र कुमार
प्रोफेसर एमेरिटस
इण्डियन थिएटर,
पंजाब यूनिवर्सिटी,
चण्डीगढ़, भारत

प्रमोद कुमार
शोधार्थी,
इण्डियन थिएटर,
पंजाब यूनिवर्सिटी,
चण्डीगढ़, भारत

सारांश

जब हम हिन्दी रंगमंच की बात करते हैं तो देश की राजधानी दिल्ली का नाम सर्वोपरि रहता है। उसका सबसे बड़ा कारण है कि दिल्ली में हिन्दी रंगमंच को संपन्न और उन्नत बनाने के लिये राष्ट्रीय नाट्य विद्यालय, संगीत नाटक आकादमी, साहित्य अकादमी, साहित्य कला परिषद जैसे राष्ट्रीय संस्थान तथा सुविधा संपन्न प्रेक्षागृह यहाँ उपलब्ध हैं। इसलिये दिल्ली को हिन्दी रंगमंच का गढ़ भी कहा जाता है। देश के हर राज्य से रंगकर्मी यहाँ आकर हिन्दी रंगकर्म कर रहे हैं। यहाँ की नाट्य–संस्थाओं द्वारा मंचित नाट्य प्रस्तुतियों ने हिन्दी रंगमंच को कलात्मक एवं रचनात्मक रूप से समृद्ध कर प्रायोगिक एवं व्यावसायिक दृष्टिकोण से राष्ट्रीय स्तर पर पहचान दिलायी है। इन संस्थाओं एवं इनकी प्रस्तुतियों का अध्ययन कर ये पाया गया कि हिन्दी रंगमंच के सैद्धान्तिक और व्यावहारिक विकास में इनकी अहम भूमिका है।

मुख्य शब्द : दिल्ली का हिन्दी रंगमंच, व्यावसायिक एवं अव्यावसायिक रंगसंस्थायें, रंग निर्देशक, नाट्य प्रस्तुतियाँ।

प्रस्तावना

दिल्ली का हिन्दी रंगमंच साधन संपन्न है, यहाँ की रंगप्रस्तुतियों से सदैव दर्शकों को उत्कृष्टता की उम्मीद रहती है। जहाँ व्यावसायिक रंग–संस्थायें अपनी अच्छी प्रस्तुतियों से दर्शकों को रंगमंच की ओर आकर्षित कर रहीं हैं, वहीं कुछ अव्यावसायिक रंग संस्थायें अपनी अपरिपक्व प्रस्तुतियों से दर्शक को निराश भी कर रही हैं। जिसके कारण दर्शकों की संख्या में वृद्धि की दर बहुत धीमी है। दर्शक रंगमंच का सबसे अहम पहलू होते हैं, दर्शक हैं तभी रंगमंच है अन्यथा रंगमंच जीवित नहीं रह पायेगा। रंगमंच को जीवित रखने के लिये रंगसंस्थानों में प्रशिक्षित रंगकर्मियों का होना अनिवार्य है जिससे वो अपनी रंग प्रस्तुतियों में गुणवत्ता दे सकें।

अध्ययन का उद्देश्य

दिल्ली के हिन्दी रंगमंच के विकास में रंग–संस्थाओं, रंग निर्देशक और उनकी प्रस्तुतियों की भूमिका का विश्लेषण एवं आंकलन करना, जिससे हिन्दी रंगमंच की वर्तमान स्थिति में सुधार की दिशा तय की जा सके।

दिल्ली में हिंन्दी रंगमंच के विकास में संस्थाओं एवं नाट्य प्रस्तुतियों का महत्व

दिल्ली में हिन्दी समसामयिक प्रयोगात्मक रंगमंच ने सन् 1960 से 2010 तक पचास वर्षों की जो रंगयात्रा तय की है, वो बिना रूके अनवरत् रूप से नये–नये पड़ावों से होकर गुज़री है। जिसमें शोध एवं अनुसंधानों ने पड़ाव–दर–पड़ाव दर्शकों के सम्मुख जो हिन्दी रंगमंच प्रस्तुत किया, उसे दर्शकों ने सराहा भी और टिप्पणी भी की। इस विकास यात्रा में हिन्दी नाटककारों, अनुवादकों, रूपांतरणकारों, प्रयोगधर्मी निर्देशकों एवं व्यावसायिक–अव्यावसायिक नाट्य संस्थाओं और सरकारी–गैरसरकारी नाट्य संस्थानों का महत्वपूर्ण योगदान रहा है। इनके अतिरिक्त नृत्य, संगीत, स्थापत्य कला, वस्त्र–सज्जा, आदि सबके सहयोग से ही रंगमंच ने अपना अस्तित्व प्राप्त करा है। इस संबंध में एडवर्ड गॉर्डन क्रेग (इग्लैण्ड) ने कहा है "रंगमंच की कला न तो अभिनय है और न नाटक, न तो दृश्य है और न नृत्य, बल्कि वो उस सम्मिलित प्रभाव में है, जो इन समस्त वस्तुओं के समन्वय से उत्पन्न होता है। क्रिया अभिनय का प्राण है, शब्द नाटक के शरीर हैं, रंग और रेखायें सज्जा को अनुप्राणित करती है, लय और गति नृत्य की आत्मा। इनमें से किसी का भी महत्व सर्वोपरि नहीं है। कलाकार के लिये जैसे प्रत्येक रंग और प्रत्येक रेखा की समान महत्वता होती है, संगीतकार के लिये जैसे प्रत्येक स्वर महत्वपूर्ण होता है, वैसे ही नाटक के लिये इन समस्त तत्वों की

समन्वति आवश्यक और महत्वपूर्ण है।"[1] अपने पचास वर्षों के समय काल में दिल्ली में प्रदर्शित प्रत्येक नाट्य प्रस्तुति का स्वरूप एक सा ही नहीं रहा, बल्कि देश एवं विदेश में उत्पन्न आर्थिक, सामाजिक, धार्मिक, राजनैतिक आदि परिस्थितियों का प्रभाव हमें दिल्ली के समसामयिक हिन्दी रंगमंच में देखनें को मिला है। यहाँ की व्यावसायिक और अव्यावसायिक रंग संस्थाओं द्वारा प्रस्तुत प्रायोगिक, अप्रायोगिक एवं वैविध्यपूर्ण प्रदर्शनों ने ही सच्चे अर्थों में हिन्दी रंगमंच को विकसित किया एवं राष्ट्रीय रंगमंच की पहचान दिलाई। हिन्दी रंगमंच में रंगसंस्थाओं और नाट्य प्रस्तुतियों की भूमिका का अवलोकन प्रत्येक दशक के अनुसार निम्नवत है–

सन् 1960–1970

ये दशक हिन्दी रंगमंच के नवजागरण, विकास एवं उपलब्धियों का दशक था। एक तरफ हिन्दी नाट्य साहित्य में मोहन राकेश, जगदीश चन्द्र माथुर, धरमवीर भारती जैसे उत्कृष्ट साहित्यकार अपनी उपस्थिति दर्ज़ करा चुके थे, तो दूसरी ओर रंगमंच का मुख्य स्तम्भ माने जाने वाले रंगकर्मी इब्राहिम अल्काज़ी ने सन् 1962 में राष्ट्रीय नाट्य विद्यालय के निदेशक का पद सम्भाला। इस समय हिन्दी रंगमंच अपने उत्कर्ष के आरम्भिक दौर में था, तथा रंगमंच को एक ऐसे नाटककार और निर्देशक की आवश्यकता थी जो रंगमंच को आधुनिक यर्थाथवादी हिन्दी समसामयिक रंगमंच की मुख्य धारा से जोड़े। वो काम हुआ नाटककार मोहन राकेश और रंगनिर्देशक इब्राहिम अल्काज़ी के मिलन से, जिसके परिणामस्वरूप 'आषाढ़ का एक दिन' का मंचन हुआ। 'नाटक एक दृश्यकाव्य होता है' इसीलिये नाटककार और निर्देशक का संबंध बहुत ही गहरा होता है। रंगमंच में मुख्य तत्व तीन ही होते हैं नाटककार, अभिनेता , निर्देशक। इस संबंध में देवेन्द्र राज अंकुर जी कहते हैं 'रंगमंच के तीन केन्द्रीय तत्व हैं यथा– नाटककार, अभिनेता और निर्देशक। चाहें तो इसमें दो तत्व और जोड़ सकते हैं और वे हैं प्रदर्शन स्थल और दर्शक, लेकिन इन दोनों तत्वों का नाटक तैयार करने की रचना–प्रक्रिया से सीधा ताल्लुक नहीं है'।[2] इन तत्वों में नाटककार की भी अहम भूमिका होती हैं। हिन्दी नाट्य जगत में मुख्य रूप से नाटककार मोहन राकेश का योगदान अतुलनीय है। मोहन राकेश द्वारा लिखित यथार्थवादी शैली में 'आषाढ़ का एक दिन' (1958 में प्रकाशित) और 'आधे अधूरे' (1962 में प्रकाशित) दो ऐसे नाटक है जिनके प्रदर्शनों ने हिन्दी रंगमंच के साथ–साथ अभिनेताओ एवं रंग–निर्देशकों को भी राष्ट्रीय स्तर पर व्यापक पहचान दिलायी। ये पहला ऐसा प्रायोगिक आलेख था जिसमें रंग–निर्देशों के साथ–साथ चरित्रों के हावभाव, क्रिया प्रतिक्रिया भी सूक्ष्मता के साथ वर्णित की गयी थी। मोहन राकेश के नाटकों को हिन्दी नाट्य जगत में श्रेष्ठ स्थान एवं स्थायी महत्व मिला है।

राष्ट्रीय नाट्य विद्यालय के छात्रों के साथ पहली प्रस्तुति के लिये इब्राहिम अल्काज़ी ने मोहन राकेश द्वारा लिखित हिन्दी नाटक 'आषाढ़ का एक दिन' (1962 में मंचित) को चुना, उन्होने इस नाटक के मचंन के लिए प्रयोगस्वरूप मुक्ताकाश के नीचे ऐसा अस्थायी मंच बनाया जिसने अपने शिल्प से यथार्थवादी एवं आधुनिक रंगमंच को प्रतिष्ठित किया। इसमें अभिनेताओं का अभिनय अत्यन्त ही सहज, गहरा, मार्मिक और सूक्ष्म था। इस नाटक के सैट के संबंध में वरिष्ठ रंगनिर्देशक देवेन्द्र राज अंकुर ने कहा है कि 'कैलाश कॉलोनी के जिस किराए के मकान में राष्ट्रीय नाट्य विद्यालय का पहला परिसर था उसी के पिछवाड़े एक छोटे से खुले प्रांगण में 'आषाढ़ का एक दिन' का दृश्यबंध साकार किया गया जो एक प्रकार से खुले मंच और प्रोसिनियाम मंच का अद्भुत मिश्रण था।'[3] दर्शकों के लिये ये अनुभव अत्यंत ही अद्भुत था। इस नाटक का मंचन भारत के अधिकांश रंगनिर्देशकों ने अपनी व्यावसायिक और अव्यावसायिक नाट्य संस्थाओं के साथ किया। सन् 1963 में फिरोज़ शाह कोटला किले के मुक्ताकाश प्रांगण में नाटककार धर्मवीर भारती द्वारा लिखित हिन्दी काव्य नाटक 'अंधा युग' का मंचन किया, जोकि हिन्दी रंगमंच के लिए मील का पत्थर साबित हुआ। इस नाटक के आठ सफ़ल प्रदर्शन किये गये। इसके बाद में शांता गांधी द्वारा निर्देशित 'मध्यम–व्यायोग' (1965), 'भगवद्अज्जुकम्' (1967) एवं पारम्परिक शैली के संयोजन से तैयार की गयी संगीत प्रधान प्रस्तुति 'जसमा ओडन' (1968) ने हिन्दी प्रायोगिक रंगमंच में अपनी उपस्थिति राष्ट्रीय स्तर पर दर्ज़ कराई। 'जसमा ओडन' ये नाटक पहला ऐसा नाटक माना जाता है जिसमें परम्परिक और लोकनाट्य शैली के संयोजन का सफ़ल प्रयोग किया गया। इन नाटकों का मंचन अपनी रचना प्रक्रिया, अभिनय शैली, दृश्य संरचना एवं प्रस्तुतिकरण में दर्शकों के लिए एक अविस्मरणीय अनुभव रहा।

इब्राहिम अल्काज़ी ने, पाश्चात्य् नाटकों की हिन्दी अनुदित प्रस्तुतियाँ 'इडिपस रैक्स' (1964, सॉफ़ोक्लीज़), 'किंग लियर' (1964, विलियम शेक्सपियर), 'कंजूस' (1965, मौलियर) का मंचन भी किया। रंगमंच के प्रत्येक पहलू में परिपक्व इन अत्यधिक सफ़ल प्रयोगात्मक प्रस्तुतियों ने आधुनिक हिन्दी रंगमंच को व्यावसायिक रूप में कार्य करने के लिए भी प्रोत्साहित किया। इस प्रगति से ग़ैर–हिन्दी भाषी रंगकर्मी भी दिल्ली के हिन्दी रंगमंच की ओर आकर्षित होकर यहां रंगकर्म कर रहे थे। इनमें इब्राहिम अल्काज़ी, एम0 के0 रैना (महाराज कृष्ण रैना), बंसी कौल, अमाल अलाना, ऊषा गांगूली, के0 एन0 पनिक्कर (कावालम् नारायण पनिक्कर), ब0 व0 कारंत (बाबु कोडि वेंकटरामन कारंत), विजया मेहता, शान्ता गांधी, प्रसन्ना, रतन थियम, फ्रिट्ज़ बेनेविट्ज़ (जर्मनी), रिचर्ड शेखनर (यूनाइटेड स्टेट) आदि मुख्य नाम हैं, इन्होने समसामयिक हिन्दी रंगमंच में अपने नाट्य–निर्देशन के प्रतिभा कौशल से अपनी जगह बनायी और रंगमंच को एक नई दिशा देने में अपना उत्कृष्ट योगदान दिया। इसका प्रभाव ये हुआ कि रंगमंच नये वातावरण, कथ्य, शैलियों से परिचित हुआ, जिसकों दर्शकों ने खूब सराहा। अनुदित नाटकों के मंचन की सफ़लता ने अनुवाद एवं रूपान्तरण को प्रोत्साहित किया। अनुवादकों द्वारा इन अनुवादों एवं रूपांतरणों में मूल नाटक की गतिशीलता, अंतर्द्वद एवं भाव को बनाये रखने की पूरी–पूरी कोशिश की गयी। इन नाटकों ने मंच पर अपना जादू बिखेरकर हिन्दी रंगमंच को राष्ट्रीय रंगमंच की पहचान दिलाने में अपनी महत्वपूर्ण भूमिका अदा की।

सत्तर के दशक में नये नाट्य–प्रयोगों एवं नाट्य रचनाओं को प्रोत्साहन मिला। रंगकर्मियों द्वारा नाट्य संस्थाओं की स्थापना की जाने लगी। राष्ट्रीय नाट्य विद्यालय के स्नातक ओम शिवपुरी द्वारा, सन् 1967 में दिल्ली में 'दिशान्तर' नाट्य संस्था की स्थापना की गयी। दिशांतर द्वारा 1969 में, ओम शिवपुरी के निर्देशन में 'आधे अधूरे' नाटक, पिछले दस साल के हिन्दी रंगमंच की सबसे सफ़लतम् प्रस्तुतियों में से एक था। इसका मंचन हिन्दी रंगान्दोलन को प्रगति देने में अपनी अहम भूमिका रखता है। सन् 1967 में रंगकर्मी राजिन्दर नाथ ने दिल्ली में 'अभियान' नाट्य संस्था की स्थापना की। राजिन्दर नाथ द्वारा अभियान नाट्य संस्था के लिए निर्देशित नाटक 'एक शून्य वाजीराव' (1968), 'पगला घोड़ा' (1969), 'कर्फ्यु' (1971), 'हानूश' (1977), राष्ट्रीय स्तर पर चर्चा का विषय बने।

रंगमंच को विकास एवं व्यावसायिक विस्तार देने के उद्देश्य से सन् 1968 में राष्ट्रीय नाट्य विद्यालय ने अपने चार स्नातकों को लेकर एक रंगमंडल की स्थापना की। जिसने सन् 1976 में अभिनेताओं के लिए पूर्ण रूप से व्यावसायिक रंगमण्डल के रूप में कार्य करना आरम्भ किया। ये एक प्रयोग था जो सफ़ल रहा। रंगमंडल ने अपने प्रदर्शनों में रचनात्मक विविधता को प्राथमिकता दी। यहाँ मौलिक हिन्दी नाटकों के साथ–साथ विख्यात विदेशी एवं भारतीय अहिन्दी भाषी नाटकों के हिन्दी अनुवाद एवं रूपांतरणों का मंचन भी भिन्न–भिन्न शैलियों में किया गया।

सन् 1970, इस समय कई हिन्दी नाटककारों, जिनमें मुद्राराक्षस, मणिमधुकर, सुरेन्द्र वर्मा, सर्वेश्वर दयाल सक्सेना, शंकर शेष, नन्द किशोर आचार्य, नाग बोडस, रामेश्वर प्रेम, स्वदेश दीपक, असगर बजाहत, ने अपनी रचनाओं से हिन्दी नाट्य साहित्य और रंगमंच को समृद्ध किया। इन रचनाकारों की रचनाओं को मंच पर साकार करके रंगनिर्देशक ब्रज मोहन शाह, मोहन महर्षि, भानू भारती, रंजीत कपूर, सतीश आनन्द, दिनेश ठाकुर, हरीश भाटिया, गिरिश रस्तोगी, अलखनन्दन, रामगोपाल बजाज, आदि ने हिन्दी रंगमंच में अपनी पहचान बनाकर ख्याति अर्जित की।

सन् 1970–1980

सन् 1970 से 80 के दशक में रंगमंच पहले की अपेक्षा ज़्यादा प्रयोगवादी नज़र आया। इस अस्सी के दशक में हिन्दी थियेटर में एक लहर चली, जब पाश्चात्य नाटकों की तुलना में निर्देशकों, नाटककारों एवं अभिनेताओं को भारतीय नाटकों, लोक–नाट्यो, पारम्परिक शैलियों और संस्कृत नाटकों ने अपनी ओर आकर्षित किया। ये आठवां दशक हिन्दी रंगमंच का स्वर्ण काल कहा जाता है, जब सम्पूर्ण रंगमंच अपनी जड़ो की ओर लौट रहा था, रंगनिर्देशक आधुनिक समसामयिक नाटकों में लोक तत्वों का उपयोग कर रहे थे और रंगमंच फलफूल रहा था। इस दशक में पारंपरिक एवं लोक–कलाओ का समसामयिक रंगमंच से जुड़ना रंगमंच की सबसे बड़ी उपलब्धि मानी जाती रही है। दिल्ली की अपनी कोई रंग–संस्कृति और नाट्य परम्परा या लोक शैली न होने के कारण दिल्ली के सीमावर्ती राज्यों के लोक नाट्यों जैसे रामलीला, रासलीला, नौटंकी, सॉग, संगीत, भगत आदि परम्पराओं और लोक शैलियों का उपयोग यहाँ के हिन्दी नाटकों में खूब किया गया। इसी दौर में 'हयवदन' (गिरिश कर्नाड), 'घासीराम कोतवाल' (विजय तेंडुलकर), हबीब तनवीर द्वारा छत्तीसगढ़ की पारम्परिक लोकनाट्य शैली में लिखित नाटक 'चरनदास चोर' (1975), 'बहादुर कलारिन' (1978), 'माटी की गाड़ी' (1958), नौटंकी शैली में सर्वेश्वर दयाल सक्सेना का 'बकरी' (1973) एवं मुद्राराक्षस का 'आला अफसर' (1977), ख्याल शैली में मधुकर का 'रसगंधर्व' (1973) और 'खेला पोलमपुर का' (1975), आदि नाट्य आलेखों ने रंगमंच और निर्देशकों के लिए नये आयामों, सम्भावनाओं की तलाश की और नयी गति दी। इस संदर्भ में देवेन्द्र राज अंकुर ने कहा है कि 'जिस भारतीय रंगशैली की अपने देश को ज़रूरत थी हबीब तनवीर ने इस नाटक के लेखन एवं प्रस्तुतीकरण के माध्यम से उस वक़्त (सन् 1954) तलाश कर ली थी।'[4] हबीब तनवीर ने भारतीय रंगशैलियों का प्रचूर मात्रा में अपने नाटकों में उपयोग कर हिन्दी रंगमंच को लोक संस्कृति से संपन्न किया।

हिन्दी प्रयोगात्मक रंगमंच के इस दौर में मौलिक अथवा अनुदित नाटकों के मंचन में निर्देशकों ने अपने क्षेत्रों की रंग–शैलियों का प्रयोग करना आरम्भ कर दिया था। इस शुरूआत के साथ ही संस्कृत नाटकों का भी नई शैलियों में मंचन होना आरम्भ हो गया। इसमें नाटयशास्त्र में वर्णित संस्कृत नाटकों की मंचन–शैली एवं आधुनिक दृश्यबंध, परिकल्पना का समन्वय भी देखने को मिला, जो अत्यन्त ही प्रायोगिक था। ये रंगमंच के विकास का शुभ–सूचक था। अब दर्शक भी पहले की अपेक्षा रंगमंच के प्रति अधिक संवेदनशील और सचेत हो रहे थे। रंजीत कपूर, बंसी कौल, अमाल अलाना, एम0 के0 रैना, बी0 एम0 शाह, ब0 व0 कारंत आदि रंग निर्देशकों ने मौलिक या अनुवादित नाटकों के प्रर्दशन में नई शैलियों को खोज निकाला और रंगमंच से परिचित करा हिन्दी रंगमंच को आगे बढ़ाया। प्रसिद्ध रंगकर्मी राजेन्द्र नाथ ने अपनी नाट्य संस्था अभियान के साथ सन् 1973 में महाराष्ट्र की पारम्परिक नाट्य शैली में 'घासीराम कोतवाल' का मंचन किया। रंगनिर्देशक अनिल चौधरी ने नाटक 'लैला मँजनू' का मंचन उत्तर प्रदेश की नोकनाट्य शैली नौटंकी में किया। सन् 1978 में राष्ट्रीय नाट्य विद्यालय के खुले प्रांगण में ब0 व0 कारन्त के निर्देशन में 'अंधेर नगरी चौपट राजा' का मंचन हुआ। राष्ट्रीय नाट्य विद्यालय में शिवराम कारन्त के निर्देशन में भीष्म साहनी का नाटक 'विजय' का मंचन कर्नाटक की लोकशैली यशगान में हुआ। राजस्थान की लोकनाट्य शैली में भानू भारती के निर्देशन में मणि मधुकर के हिन्दी नाटक 'रस गंधर्व' की प्रस्तुति राष्ट्रीय नाट्य विद्यालय रंगमंडल द्वारा हुयी। इस दशक में दूसरी भाषाओं के निर्देशकों का रूझान हिन्दी मंच की ओर हुआ और उनकी नाट्य मंडलियों ने दिल्ली में आकर अपनी नाट्य प्रस्तुतियों का मंचन करना आरम्भ कर दिया। इनमें कावालम् नारायण पणिक्कर, रतन थियम, कन्हई लाल आदि ने अपनी शैलियों को विकसित किया और उनको हिन्दी प्रायोगिक रंगमंच से परिचित कराया। इन्होने यथार्थवादी, ग़ैर यथार्थवादी रूढ़ियों और व्यवहारों से

रंग–सज्जा की सादगी एवं प्रतीकात्मकता, प्रकाश के कल्पनाशील संयोजन, गतियों की सर्जनात्मक संरचना, कोरस, सूत्रधार संगीत के प्रयोग और प्रदर्शन में दर्शकों की हिस्सेदारी आदि से रंगशिल्प के स्तर पर अनेक साहसिक प्रयोग किये।

सन् 1980–1990

नब्बे के इस दशक में दिल्ली के रंगपरिदृश्य पर व्यावसायिकता ने एक नयी ऊर्जा का आगाज़ किया। विभिन्न नाट्य संस्थाओं एवं केन्द्रों ने अपने रंगमण्डल की स्थापना की। जिससे नाट्य प्रस्तुतियों का स्तर ऊपर उठा एवं रंगमंच में व्यावसायिकता की गति में वृद्धि हुयी। सन् 1981 में श्री राम सेंटर नाट्य संस्थान ने अपने 'व्यावसायिक रंगमंडल' की शुरूआत की। तब से ये रंगमंडल लगातार हिन्दी नाटकों का मंचन करता आ रहा है। रंगस्तम्भ हबीब तनवीर द्वारा 'नया थियेटर रंगमंडल' की स्थापना की गयी, इनके अतिरिक्त 'साहित्य कला परिषद रंगमण्डल', 'लिटिल थियेटर ग्रुप रंगमण्डल' की स्थापना ने रंगकर्मियों को रोजगार एवं उर्जा प्रदान की। इस शुरूआत से दिल्ली में रंगकार्य की गति एवं गुणवत्ता में तीव्रता से विकास हुआ।

इस दशक में दो नये प्रयोग हुये एक– 'कहानी का रंगमंच', दूसरा– 'नुक्कड़ नाटक' का पुर्नजन्म। कहानी का रंगमंच की शुरूआत वरिष्ठ रंगकर्मी देवराज अंकुर द्वारा मानी जाती है। कहानी का रंगमंच, कहानी के कथ्य को उसके मूल रूप में मंच पर प्रस्तुत करना है। किसी नाट्यलेख का मंचन, नाटक के विभिन्न आयामों को हर बार एक नये दृष्टिकोण से प्रस्तुत कर सकता है। नाटक के संवाद रहस्यगामी एवं सृजनशील होते हैं। निर्देशक, पाठक या दर्शक एक ही नाटक को अलग–अलग संदर्भ के साथ ग्रहण कर सकते है, पर कहानी एवं उपन्यास में संवाद अपना नियत स्थान, रचना के दौरान ही ग्रहण कर लेते हैं। रंगकर्मी देवराज अंकुर द्वारा की गयी इस शुरूआत ने मंच पर सफ़लता प्राप्त कर रंगकर्मियों का ध्यान अपनी ओर आकर्षित किया। कहानी के साथ–साथ उपन्यासों का भी मंचन किया जाने लगा। एक अन्य प्रयोग के अन्तर्गत दिल्ली के रंगकर्मी सफ़दर हाशमी ने इप्टा के कार्यों से प्रभावित होकर सन् 1973 में 'जन नाट्य मंच' संस्था की स्थापना की। जिसका उद्देश्य अपने नाटकों के माध्यम से समाज में व्याप्त बुराइयों और शोषण के ख़िलाफ़ आवाज़ उठाकर लोगों को जागरूक कराना था। स्थापना के बाद रंगकर्मी सफ़दर हाशमी के सहयोग और मार्गदर्शन में, इस संस्था ने नुक्कड़ नाटकों की यात्रा सन् 1978 में आरम्भ कर नुक्कड़ नाटकों को पुर्नजन्म दिया। इसका सम्पूर्ण श्रेय सफ़दर हाशमी को जाता है। सफ़दर हाशमी ने बेरोज़गारी, मज़दूरों के शोषण, भ्रष्टाचार, औरतों के सशक्तिकरण और शिक्षा आदि को अपने नाटकों का मुद्दा बनाया। इस संस्था के नाटकों के प्रदर्शनों से लोगों में चेतना और जागृति की लहर दौड़ने लगी। एक बार फिर प्रोसीनियम प्रेक्षागृहों का मोह त्याग, रंगकर्मियों ने नुक्कड़ नाटकों के मुक्ताकाशीय मंचन भी खूब किये। सफदर हाशमी की मृत्यु के बाद एक बार फिर नुक्कड़ नाटक की गति में शिथिलता आ गई।

सन् 1990–2000

सन् 1947 में भारत और पाकिस्तान विभाजन के समय हुये साम्प्रदायिक नरसंहार के बाद, सन् 1965 और 1971 में पाकिस्तान के साथ भारत के युद्ध एवं सन् 1992 में बाबरी मस्जिद ध्वंस का असर लोगों की साम्प्रदायिक भावनाओं पर निरन्तर पड़ता रहा। नाट्य लेखकों ने अपने आलेखों के माध्यम से समाज को एकजुट करने का भरपूर प्रयास किया। रंगमंच पर कई ऐसे नाटकों, कहानियों और उपन्यासों के मंचन हुये जिन्होंने समाज में फैली साम्प्रदायिकता को समाप्त करने का भरपूर प्रयास किया। इनमें 'खोल दो', 'टोबा टेक सिंह' (सआदत हसन मंटो), 'कितने पाकिस्तान' (कमलेश्वर), 'ट्रेन टू पाकिस्तन' (खुशवंत सिंह) आदि मुख्य हैं। सन् 1998 में राष्ट्रीय नाट्य विद्यालय ने त्रैमासिक/अर्द्धवार्षिक नाट्य पत्रिका 'रंगप्रसंग' का प्रकाशन आरम्भ किया। जिसका सम्पांदन प्रसिद्ध रंगमनीषी प्रयाग शुक्ल द्वारा किया जाता रहा है। इस रंगपत्रिका में राष्ट्रीय रंगमंच के साथ–साथ अन्तर्राष्ट्रीय रंगमंच के भी समस्त पहलुओं पर लेखों को भी प्रकाशित किया गया। पत्रिका ने रंगमंच में समाहित अन्य कलाओं संगीत, नृत्य, फ़िल्म, चित्रकला आदि पर भी समय–समय पर कला विशेषज्ञों के लेखों एवं संबंधित सामग्री को अपने अंको में स्थान दिया। इस पत्रिका ने रंगकर्मियों के बीच अपना विशिष्ट स्थान बनाया एवं पाठकों को भी अपनी ओर आकर्षित किया।

सन् 2000–2010

इक्कीसवीं सदी के इस उत्तर आधुनिक युग में रंगमंच आमजन के जीवन का एक हिस्सा सा बन गया है, और ऐसा होना भी चाहिये क्योंकि अगर रंगमंच को जीवित रखना है तो दर्शकों के समीप जाना होगा। इस संबंध में रंग स्तम्भ इब्राहिम अल्काज़ी जी ने भी कहा है, 'रंगमंच शहर के नागरिक जीवन का एक अंग होना चाहिए।'[5] इस कथन का अनुसरण ही रंगमंच को जीवित रखेगा। इस दशक में रंगमंच की एक नई भाषा एवं शैली की तलाश में रंगकर्मियों ने पूर्व प्रचलित नाट्य रूपों और शैलियों का अनुसरण न करते हुये, स्वनिर्मित नाट्य अलेख एवं प्रेरित नाट्य रूपांतरण तैयार कर अपनी रचनाशीलता और सृजनशीलता से नाट्यसाहित्य और रंगमंच को समृद्ध किया। इस दशक में अधिकांश नाटकों के प्रदर्शन, ऑडियो, वीडियो, प्रोजेक्टर तथा अन्य आधुनिक तकनीकी उपकरणों के उपयोग से मूर्त होते रहे। इस समय नाटक की रचना एवं मंच परिकल्पना में कुछ नया, आधुनिक और प्रयोगात्मक करने की चाह में यथार्थवादी शैली का उपयोग बहुत कम होने लगा। यथार्थवादी शैली के बंधे–बंधाये ढाँचे से पृथक, पुराने नाटकों का मंचन नये दृष्टिकोण और आयाम से होने लगा। दिल्ली के नाट्य संस्थानों और विभिन्न व्यावसायिक और अव्यावसायिक नाट्य संस्थाओं द्वारा आयोजित नाट्य महोत्सव, नाट्य कार्यशालाओं एवं वार्ताओं आदि ने दिल्ली के सम्पूर्ण रंगपरिदृश्य को इक्कीसवीं शताब्दी के इस उत्तर आधुनिक युग से जोड़ दिया था। जिसमें सबसे अहम भूमिका 1999 में दिल्ली में आरम्भ हुये भारत रंग महोत्सव की रही। इस महोत्सव में देश–विदेशों से आये

हिन्दी और ग़ैर–हिन्दी नाटकों ने दिल्ली के हिन्दी रंगमंच को नवीनता एवं उर्जा प्रदान की।

इस दशक की महत्वपूर्ण रंगप्रस्तुतियों में 'चाणक्य विष्णुगुप्त', 'ताजमहल का टेंडर', 'अन्वेषक', 'आइंस्टाइन', 'दीवार में एक खिड़की रहती थी', 'जिन्ना', 'यमगाथा' , 'नाचनी', 'डाकू', 'भूख आग है, 'थैंक्यू बाबा लोचनदास', 'यदा यदा ही धर्मस्य', काफ़का 'थ्री लिटिल बिग ट्रेजडीज़', 'राम नाम सत्य है', 'जानेमन', 'जिल्ले सुब्हानी', 'मुझसे पहली सी मोहब्बत मेरे महबूब न माँग', 'माटी की गाड़ी', '1857 एक सफरनामा' आदि अत्यंत ही प्रभावशाली प्रस्तुतियाँ थी।

निष्कर्ष

रंगमंच सैद्धान्तिक से अधिक प्रयोगात्मक है। ये पूर्णतः रंगप्रस्तुतियों के ऊपर ही जीवित है। यदि रंगप्रस्तुतियाँ मंचित ना हों तो रंगमंच सिर्फ किताबों तक ही सीमित रह जायेगा और आने वाले समय में ये कला लुप्त हो जायेगी। दिल्ली में बहुत सारे नाट्य दल अस्तित्व में हैं और रंगकर्म कर रहे हैं। ये बात अलग है कि कुछ व्यावसायिक हैं तो कुछ अव्यावसायिक। परन्तु नाटक का मंचन दोनों प्रकार की नाट्य संस्थायें कर रही हैं। रंगमंच चाहे किसी भी देश या राज्य का हो, वो पूर्ण रूप से दर्शकों के ऊपर निर्भर होता है। यदि दर्शक किसी जगह विशेष के रंगमंच को पसंद करते हैं तो वहां का रंगमंच संपन्न होगा, अन्यथा नहीं। दर्शक बहुत ही निष्पक्ष होकर नाटक देखता है और अपनी राय देता है। इसलिये नाट्य संस्थाओं का ये कर्तव्य बनता है कि वो अपने नाटकों में गुणवत्ता बनाये रखें, जिससे दर्शक नाटक देखने प्रेक्षागृह में आयें। यदि रंगसंस्थायें अपरिपक्व नाटकों का मंचन करेंगी तो दर्शक उन नाटकों को एक बार तो देख लेंगे परन्तु बुरे अनुभव के कारण अगली बार नाटक देखने नहीं आयेंगे। इसीलिये प्रस्तुति ऐसी होनी चाहिये जिसमें गुणवत्ता हो, जो दर्शकों को निराश न करे। इस आधार पर दिल्ली के हिन्दी रंगमंच की साख यहां की संस्थाओं और नाट्य प्रस्तुतियों के ऊपर पूर्णतयः निर्भर रही हैं। और हम ये गर्व से कह सकते हैं कि दिल्ली की सार्थक प्रस्तुतियों ने दशक–दर–दशक हिन्दी रंगमंच को निरन्तर ऊर्जा प्रदान की है। उपरोक्त दशकों में हुयी सार्थक नाट्य प्रस्तुतियों ने ही आज हमारे समक्ष एक नया प्रायोगिक हिन्दी रंगमंच प्रस्तुत किया है। यदि हम गौर करें तो पायेंगे कि प्रत्येक दशक में प्रयोग के माध्यम से नाटक के प्रस्तुतिकरण में एक नयी शैली की खोज अवश्य की गयी है। सही मायने में प्रायोगिक प्रस्तुतियों ने ही रंगमंच में जीवंतता बनायी रखी है, अन्यथा पुरानी शैलियों के निरन्तर उपयोग से दर्शक में ऊप पैदा होती है और वो रंगमंच से दूरी बनाना आरम्भ कर देते हैं। नयी–नयी रूपरेखा की प्रस्तुतियाँ दर्शकों को आकर्षित करती हैं और नाटक देखने के लिये बाध्य। यदि दिल्ली की रंग–संस्थायें इसी प्रकार प्रयोगात्मक और सार्थक प्रस्तुतियाँ मंचित करती रहीं तो रंगमंच सदैव गतिवान रहेगा।

अंत टिप्पणी

1. *The Art of the Theatre, Edward Gordon Craig, Heinemannn Publication London*
2. *पढ़ते सुनते देखते, देवेन्द्र राज अंकुर, पृष्ठ 215*
3. *रंगप्रसंग, जुलाई 1998 (इब्राहिम अल्काज़ी की निर्देशन प्रक्रिया से गुज़रते हुए देवेन्द्र राज अंकुर)*
4. *रंगप्रसंग– जनवरी–जून 1999, पृष्ठ 113*
5. *रंग प्रसंग, जनवरी –जून 1998, पृष्ठ 34, इब्राहीम अल्काज़ी।*